16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 411

आरंभिक आधुनिकता, हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन और *सुंदर के स्वप्न*

रबि प्रकाश

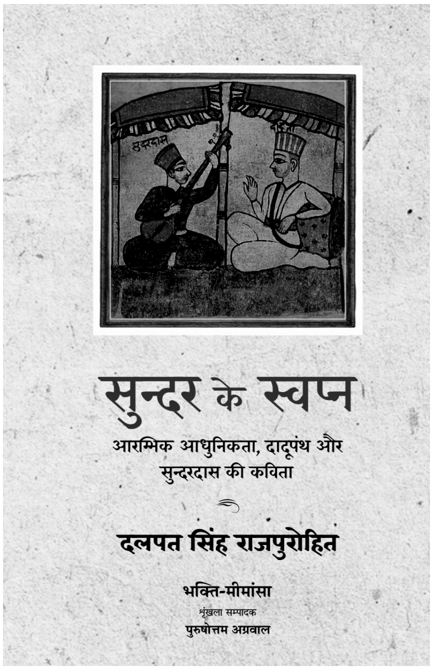

***सुंदर के स्वप्न* (2022)**
दलपत सिंह राजपुरोहित
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
पृष्ठ : 360.
मूल्य : ₹ 297.

दलपत सिंह राजपुरोहित की नई किताब, *सुंदर के स्वप्न : आरंभिक आधुनिकता, दादूपंथ और सुंदरदास की कविता*, को हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में एक महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जाना चाहिए। गहरे और व्यापक शोध पर आधारित, इतिहास-लेखन के समकालीन सैद्धांतिक विमर्श से सुपरिचित, दादूपंथी संप्रदाय के संत सुंदरदास (1596-1689) को केंद्र में रख कर लिखी गई यह किताब भक्ति-कालीन संतों की बौद्धिकता, उनके धार्मिक-आध्यात्मिक चिंतन व उनके सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों को एक नवीन परिप्रेक्ष्य और दृष्टि से उद्धृत करती है। एक ऐसे बौद्धिक परिवेश में जहाँ हिंदी में प्रस्तुत ज़्यादातर शोध-परक लेखन क्षेत्रीयता के शिकार एवं इतिहास-लेखन और उसकी सैद्धांतिकी की समकालीन वैश्विक बहस से बेख़बर से दिखते हैं, दलपत की किताब *सुंदर के स्वप्न* हिंदी की दुनिया के लिए एक सुखद परिघटना है।

पिछले कुछ दशकों में, पूर्व-आधुनिक-काल के हिंदी-साहित्य' और उससे संबंधित अन्य भाषाओं के संदर्भ-स्रोतों का नए नज़रिए से अध्ययन शुरू हुआ है, जो इतिहास-लेखन के वैश्विक विमर्श से संवाद करता है। यह विमर्श आधुनिकता को यूरोपीय प्रबोधन और औद्योगीकरण की उपज के रूप में देखने के मिथक पर पुनर्विचार करने की ज़रूरतों को रेखांकित करता है, तथा आधुनिकता के सवाल को यूरोपीय और पाश्चात्य समाज में घटने वाली एकमात्र घटना से परे देखने के आह्वान के साथ शुरू हुआ है। इस विमर्श में आरंभिक-आधुनिकता की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है और इतिहास-लेखन के विमर्श को नई दिशा देती हुई दिखाई देती है। दलपत ने इसी विमर्श के हवाले से हिंदी साहित्य के इतिहास को नए दृष्टिकोण से देखने का आह्वान किया है। ज़रूरत इस बात की है कि हिंदी और देशभाषा के विद्वत्जन इस किताब की प्रस्तावना को लेकर एक सकारात्मक जाँच-पड़ताल करें और हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन में इसकी गुंजाइश पर विचार करें। एक ओर जहाँ आधुनिकता व आरंभिक आधुनिकता की बहस हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के लिए नई नहीं है, वहीं, आरंभिक हिंदी के लेखकों, काव्य-सिद्धांतकारों को लेकर एक गहरे और गंभीर शोध-परक अध्ययन अभी तक विरले ही मिलते हैं।

आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, देश-भाषाओं का बौद्धिक व सांस्कृतिक सरोकार व हिंदी साहित्य का इतिहास

'परंपरा' बनाम 'आधुनिकता' की बहस में उलझी हुई आधुनिकता की चर्चा, मोटे तौर पर, विश्व समाज को प्राच्य और पाश्चात्य की दो पारस्परिक विरोधी सभ्यताओं के रूप में देखने का नज़रिया पेश करती रही हैं। इसके तहत हुई स्थापनाओं का सार कुछ यूँ रहा है : पाश्चात्य समाज या सभ्यता अपनी परंपरागत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं एवं बौद्धिक और तकनीकी सोच से बाहर निकल कर, आधुनिक-वैज्ञानिक, तर्क-बुद्धिवादी सोच विकसित करने में कामयाब हुई जबकि प्राच्य समाजों/सभ्यताओं में कोई ऐसी ख़ास ऐतिहासिक घटना नहीं घटी जो उनकी अपनी आधुनिकता के कारण बन सकती थी।

भारतीय इतिहासकारों और समाज विज्ञानियों के बीच एक प्रबल मत यह रहा है कि भारतीय समाज की वर्तमान आधुनिकता औपनिवेशिकता के ज़रिए गृहीत-आधुनिकता है। इस संदर्भ में, आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, औपनिवेशिक सत्ता के द्वारा प्रायोजित-'आधुनिकता' के परे 'आधुनिक' होने की संभावना और उसकी कसौटी तलाशने का विमर्श है।

इस दिशा में, आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श इतिहास लेखन में काल-विभाजन की समस्या का एक तरह से लोकतंत्रीकरण का परिचायक भी है।[1] मध्य-काल और आधुनिक-काल जैसा काल-विभाजन पाश्चात्य और ग़ैर

[1] देखें, रुडोल्फ़ स्टर्न (2002) : 296-307. और ये भी देखें, 'द प्रॉब्लम ऑफ़ द अर्ली मॉडर्न वर्ल्ड', *जर्नल ऑफ़ इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएंट*, वॉल्यूम 41, नंबर 3, 1998 : 294-284.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 413

पाश्चात्य समाजों में अलग-अलग तरीक़े से किया जाता रहा है। आरंभिक-आधुनिकता की संकल्पना को सबसे प्रभावी रूप से दक्षिणी एशियाई इतिहासकारों ने लिया है। जिसका एक कारण भारतीय इतिहास के मध्य काल और आधुनिक काल के बीच की अवधि निर्धारण से जुड़ा है वहीं दूसरा आधुनिकता की बहस से संबंधित है। यहाँ आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, 16 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी के बीच एक निरंतरता तलाशने का विमर्श है। इस दिशा में, संजय *सुब्रह्मण्यम* का लेख, *हियरिंग वॉयसेज़ : विन्येट्स ऑफ़ अर्ली माडर्निटी इन साउथ एशिया*, एक प्रसिद्ध हस्तक्षेप है।[2] अपने इस आलेख में *सुब्रह्मण्यम* ने औपनिवेशिक काल के पूर्व में भारतीय समाज के स्थापित अपरिवर्तनीय चरित्र चित्रण को न केवल चुनौती दी बल्कि, जाति संबंधित सामाजिक रिश्तों के बदलते स्वभाव, भाषाई विविधता ज और दक्षिण एशिया में 'पब्लिक' के उभरने की देशी अवधारणा को सफलतापूर्वक स्थापित किया है।[3] आरंभिक-आधुनिकता को परिभाषित करने का एक संजीदा व प्रभावी प्रयास जॉन एफ़ रिचर्ड्स ने अपने एक आलेख, 'अर्ली मॉडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री'[4] में किया। उनकी नज़र में, आरंभिक आधुनिकता, 1500-1800 के दौरान घटने वाली वैश्विक परिघटनाएँ हैं। उन्होंने इन घटनाओं की एक सूची पेश की जिसमें सूचना तंत्र के विस्तार, राज्यों की सत्ता का विस्तार, जनसंख्या में वृद्धि, उत्पादन में भूमि के इस्तेमाल में बढ़ोतरी, और नई तकनीकों के प्रसार को शामिल किया। लेकिन ये आरंभिक आधुनिकता से ज़्यादा, एक आधुनिकीकरण की अवधारणा को गढ़ने जैसा था। एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना के रूप में, रिचर्ड्स भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के वैश्विक जुड़ाव या वैश्विक समाज और अर्थव्यवस्था में सहभागी होने की भूमिका को रेखांकित करने में सफल रहे। पश्चिमी विमर्श में, आधुनिकता आधुनिकीकरण का एक हिस्सा है जो नए संस्थानों के उद्भव और निर्माण का एक अहम सूचक है। आधुनिकता के एक दूसरे पहलू के रूप में, आलोचनात्मक आत्म-चिंतनशीलता के विकास, और उभरते हुए सामाजिक, वैचारिक प्रक्रियाओं पर एक इहलौकिक नज़रिए के प्रादुर्भाव को देखा जाता है। आधुनिकता और आधुनिकीकरण के बीच अवधारणात्मक फ़र्क़ भी देखा जा सकता है। आधुनिकीकरण मानव का प्रकृति को काबू में करने का पर्याय है, आधुनिकता मानव का अपने ऊपर नियंत्रण या ऐसा मानवीय तंत्र है जो दमनात्मक विशेषाधिकार और सत्ता पर काबू पाने से जुड़ा है।[5] दक्षिणी एशियाई आरंभिक

[2] संजय *सुब्रमण्यम* (1998) : 75-104.

[3] सुब्रह्मण्यम ने अपने स्रोतों के हवाले से ये प्रस्ताव भी रखा कि वक़्त आ गया है कि दक्षिणी एशियाई इतिहासकार युरोप और पश्चिमी समाज की आरंभिक-आधुनिकता की 'संदिग्ध (एम्बिगुअस) अवधारणा' को दुरुस्त करें. हालाँकि सुब्रह्मण्यम ने 'संदिग्ध अवधारणा' को विस्तार नहीं दिया या परिभाषित नहीं किया है.

[4] देखें, जॉन एफ़ रिचर्ड्स (1997) : 197-209.

[5] इमैनुएल वॉलस्टीन (1995) : 471-488.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 414

आधुनिकता का विमर्श आधुनिकता के इन्हीं ख़ास चारित्रिक अर्थों के इर्द-गिर्द रहा है।

दिलचस्प बात ये है कि दक्षिण एशिया की आरंभिक-आधुनिकता के विमर्श के केंद्र में देशी-भाषाएँ (वर्नाक्युलर) और उनमें होने वाले यही बौद्धिक क्रिया-कलाप हैं।[6] साहित्यिक और बौद्धिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों में देशी-भाषाओं में घटने वाली घटनाएँ, न केवल अप्रत्याशित थीं, बल्कि ये वैश्विक स्तर पर होने वाले बौद्धिक परिवर्तनों के समानार्थी और समतुल्य भी थीं।

आरंभिक-आधुनिकता के मद्देनज़र एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप शेल्डन पोलॉक ने निरंतरता, अवरोध और समानार्थकता आदि सवालों के साथ जूझते हुए किया है। भारतीय और यूरोपीय बौद्धिक परंपरा में दीर्घकालीन सदृश्यता की तरफ़ इशारा करते हुए उन्होंने यह दर्शाया कि इन दोनों परंपराओं के विद्वानों की रुचि एक जैसी प्रतीत होती है। मसलन, बनारस के पंडित कमलाकर भट्ट और फ्रांसीसी कवि निकोलस बोईलू (1636-1711) के अलंकार शास्त्र और उसका शास्त्रीय प्रबंधन, नीति-शास्त्र से संबंध, और साहित्यिक सृजनात्मकता के स्रोतों की विधाओं के प्रति रुचि परस्पर मिलती-जुलती और साझी प्रतीत होती है। फिर भी अगर दोनों परंपराओं को व्यवस्थित रूप से जाँचा जाए तो, हम यह पाते हैं कि 17 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये दोनों बौद्धिक परंपरायें अलग-अलग तरीक़े से विकसित हुईं। जहाँ भारतीय राजनीतिक विचार के क्षेत्र में नीलकंठ भट्ट और मित्र मिश्र पैदा हुए वहीं यूरोप के राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में थॉमस हॉबस, और फ्रांसिस्को सॉरेज़ आदि पैदा हुए।[7]

यहाँ एक बात को रेखांकित करना ज़रूरी है कि पोलॉक का मन्तव्य औपनिवेशिक-काल के पूर्व भारत के प्रति किसी तरह के आलोचनात्मक रुख़ का नहीं है। बल्कि यहाँ वे उस संभावना के प्रति इशारा कर रहे हैं कि तर्क, अलंकार, धर्म, और राज्य शास्त्र के भारतीय विशेषज्ञों ने तत्कालीन भौतिक-परिवर्तनों के प्रति सजग अनुक्रिया नहीं की। पोलॉक के सवाल, भारतीय इतिहासकारों के लिए, आधुनिकता के पैराकारों के लिए, उसकी भिन्न संकल्पना की दिशा में एक बड़ी चुनौती पेश करते हैं।

हालाँकि, दक्षिण एशियाई इतिहासकारों और विद्वानों के लिए आरंभिक-आधुनिकता की बहसों के केंद्र में दो प्रमुख सवाल हैं। पहला, क्या यूरोपीय आधुनिकता का वर्तमान अभिरूप वाक़ई अपरिहार्य था और शेष ग़ैर-पाश्चात्य समाजों के लिए इसको आत्मसात करने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था या है? इस प्रश्न की संकल्पना में, आधुनिकता के अनेकता की कोई गुंजाइश नहीं बचती है। दूसरा, आरंभिक आधुनिकता के विभिन्न स्वरूपों के आधुनिक होने की संभावना से जुड़ा है : ऐसा क्यों है कि आरंभिक आधुनिकता के एक से अधिक स्वरूप की उपस्थिति होने के बावजूद भी सभी आरंभिक आधुनिक

[6] देश भाषाओं में आरंभिक आधुनिकता के विमर्श के लिए, संजय सुब्रमण्यम (1998) : 75-104.

[7] शेल्डन पोलॉक (2005) : 83, 84, 86.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 415

संभावनाएँ 'आधुनिक' नहीं हुईं? दूसरे शब्दों मे, आरंभिक आधुनिकता के बहुतेरे स्वरूप होने के बावजूद, आधुनिकता का एक ही मॉडल, या प्रतिमान (पाश्चात्य आधुनिकता) सर्वव्यापी क्यों हुआ? एक और अहम बात, जहाँ उत्तर-औपनिवेशिक विद्वान भारतीय सामाजिक संस्थानों में आमूल-चूल परिवर्तन के लिए औपनिवेशिक शासन और उसकी शासकीय तकनीकों की अहम भूमिका को रेखांकित करते हैं,[8] वहीं आरंभिक आधुनिकता के विद्वान इस सवाल को थोड़ा घुमाकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ज़्यादा अहमियत देते हुए यह पूछते हैं कि आख़िरकार औपनिवेशिक आधुनिकता के पूर्व सामाजिक, आर्थिक, और बौद्धिक संस्थाओं तथा विचारधाराओं का स्वरूप क्या था जिसमें औपनिवेशिक सत्ता और उसकी तकनीकी ने आमूल-चूल परिवर्तन किए? परिवर्तन के लिए उपलब्ध संस्थाओं और विचारधाराओं का मूलरूप क्या था? क्या उनके अंदर आंतरिक गतिशीलता और परिवर्तन धर्मिता थी? यदि थी तो कैसी थी? क्या औपनिवेशिक-सत्ता जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों के द्वारा परिवर्तित और आविष्कारित होने से पहले उनमें स्व-परिष्कृत होने का सामर्थ्य मौजूद था? क्या उनमें औपनिवेशिक आधुनिकता के एजेंडे और उसकी अपरिहार्यता का सामना करने और अपने मौलिक वजूद को अक्षुण्ण बनाए रखने की ताक़त थी? इन सवालों से जूझते हुए, आरंभिक आधुनिकता के सिद्धांतकार व इतिहासकार, भारतीय समाज के पूर्व-आधुनिक सामाजिक सरंचना, बौद्धिक व साहित्यिक संस्कृति का एक श्रमसिद्ध व विस्तृत वृत्तांत प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं, जिसका औपनिवेशिक आधुनिकता की बदलावकारी सत्ता से सामना हुआ होगा।[9] आरंभिक आधुनिकता के इतिहासकार ये जानना ज़्यादा ज़रूरी समझते हैं कि हमारे पास आधुनिककाल के पूर्व के सांस्कृतिक, राजनीतिक, और तकनीकी परिस्थितियों का एक जायजा हो। औपनिवेशिक आधुनिकता की योजना और उसकी राजनीतिक तथा तकनीकी शक्तियों से, आधुनिकता पूर्व की ज्ञान की संस्कृति और उसकी तकनीकों के साथ समागम एक नई संस्कृति की नींव पड़ती है। आधुनिकता और परंपरा के टकराव और उनके समागम की स्थिति को समझने के लिए आरंभिक आधुनिकता की अवधारणा एक दृष्टि पेश करती है। लगभग पिछले तीन दशकों में आरंभिक आधुनिकता के विमर्श में इसकी अवधारणा, सैद्धांतिकी, और इसके विभिन्न पहलुओं पर उत्तरोत्तर बेहतरीन विद्वत्तापूर्ण लेखन सामने आया है।[10]

ज़ाहिर है आधुनिकता की इन

[8] इस विमर्श के लिए प्रमुख रूप से देखें, बर्नार्ड कोह्न, 'द सेन्सस, सोशल स्ट्रक्चर ऐंड ऑब्जेक्टिफ़िकेशन इन साउथ एशिया', *ऐन एंथ्रोपोलॉजिस्ट एमंग द हिस्टोरियंस ऐंड अदर एसेज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1987 में संकलित. और देखें निकोलस डर्क्स, *कास्टस ऑफ़ माइंड : कोलोनियलिज़म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

[9] इस दिशा में, उल्लेखनीय योगदान शेल्डन पोलॉक का है जिन्होंने, आरंभिक आधुनिक काल में भारतीय ज्ञान और उसके शास्त्र के स्वरूप को समझने की कोशिश की. देखें, शेल्डन पोलॉक (2011) (सं.) *फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न एशिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

[10] यहाँ एक छोटी टिप्पणी विचारधारात्मक इतिहास-लेखन पर लाज़िमी है। मार्क्सवादी विचारधारा ने भारतीय इतिहास लेखन को बहुत प्रभावित किया है। इतिहास लेखन की एक गढ़ी-गढ़ाई परिपाटी जो भारतीय इतिहास को देखने का एक सीमित नज़रिया पेश करती रही है जिसमें रिलिजन/धर्म, राजनीति और अर्थव्यवस्था को देखने के प्रति, मार्क्सवाद की थियरी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती है बजाय इसके कि

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 416

प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक रूप से अधिकाधिक दर्शाने की ज़रूरत है, केवल सैद्धांतिक रूप से कल्पित कर लेने भर से बात तो नहीं बनेगी। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत ने सुंदरदास के चरित्र-चित्रण और उनके बौद्धिक साहित्यिक कार्य के मद्देनज़र यही दर्शाने का बीड़ा उठाया है। इसीलिए उनके आरंभिक आधुनिकता की इस खोजबीन में जीवन के विभिन्न पहलू (जैसे तत्कालीन समाज का बहिर्मुखी होते जाना, अन्य संस्कृतियों से बौद्धिक, व्यावहारिक लेन-देन में विस्तार, देशी-शास्त्रीय भाषाओं के संबंधों में होने वाले परिवर्तन, विमर्शों में तार्किकता और विवेकशीलता का विकास, राज्य की राजनीतिक अवधारणा में परिवर्तन, सत्ता के केंद्रीयकरण, वैयक्तिकता का विकास आदि) शामिल हैं। एक स्तर पर दलपत तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक गतिशीलता को बख़ूबी दर्शाने का काम करते हैं तो दूसरे स्तर पर सामयिक बदलाव को प्रमाणित करते हैं जो बौद्धिक रूप से एक समृद्ध आंतरिक विमर्श होने के पुख़्ते ऐतिहासिक सबूत पेश करती है। औपनिवेशिक इतिहासकारों के द्वारा गढ़ा गया कथानक, जो दक्षिण एशिया के मध्य-काल को अंधकार युग के रूप में चित्रित करता है, बकौल दलपत एक ऐतिहासिक मिथक साबित होता है।[11]

दलपत राजपुरोहित *सुंदर के स्वप्न* को इतिहास लेखन के उपरोक्त बहसों और संदर्भ को सामने रख कर पढ़े जाने की माँग करते हैं। दलपत की नज़र में, दादूपंथ की दूसरी पीढ़ी के संत, सुंदरदास आरंभिक-आधुनिकता के इन मायनों की बौद्धिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवेश में नुमाइंदगी करते हैं। सुंदरदास के बहाने, दलपत जी की कोशिश यह दर्शाने की है कि 17वीं शताब्दी में, देशी भाषा में संचालित होने वाला धार्मिक-बौद्धिक परिवेश एक मूलभूत परिवर्तनकारी दशा से गुज़र रहा था। *सुंदर के स्वप्न* सुंदरदास के काम को इस युगांतरकारी ऐतिहासिक काल-क्रम में इसके प्रतिनिधि के रूप में देखने का आग्रह करती है। छह अध्याय में फैली हुई, लेकिन एक मुख़्तसर किताब, सुंदर के व्यक्तित्व और उनकी बौद्धिक उपलब्धि को एक व्यापक ऐतिहासिक परिवेश में देखने का प्रयास करती है। यह पुस्तक एक सुलभ व पठनीय शैली में, आरंभिक-आधुनिकता को लेकर चल रहे विमर्श और उसकी उपयोगिता को रेखांकित करती हुई, इतिहास-लेखन की राजनीति और उसकी सीमाओं पर चल रही बहस से अवगत कराती हुई, सुगठित अध्याय

इतिहास के स्रोतों को अलग-अलग सृजनात्मक नज़रिए से पढ़ने की क़ाबिलियत विकसित की जाए. दूसरी तरफ़ इतिहास-लेखन का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण, अपने सोद्देश्यवादी (टेलियोलॉजिकल) रुख़ का शिकार रहता है, जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचानों को वर्तमान के सामने रख कर गढ़ने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। ये दोनों, विशुद्ध रूप से राजनीतिक तरीक़े हैं इतिहास लिखने के.

[11] ज़ाहिर है हिंदी साहित्य के इतिहास का पूर्व-आधुनिक प्रकरण भी इतिहास लेखन की औपनिवेशिक काल योजना से न केवल शासित रहा, बल्कि इसके परिणामस्वरूप, मध्यकाल और इसके चरित्र-चित्रण में सामंती समाज की प्रवृत्तियों का विवेचन हावी रहा। एक तरफ़ सामंती समाज की प्रवृत्ति की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में रीति कविता का विकास और उसके प्रचलन को परखा गया तो दूसरी तरफ़, इस्लाम का आगमन, राजनीतिक प्रभाव, और इसके परिणामस्वरूप, भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य में नैतिक पतन के प्रादुर्भाव का एक आख्यान निर्मित हुआ. भक्ति की व्याख्या भी इस्लामिक राज के परिणामस्वरूप होने वाले राजनीतिक परिवर्तन के असर के रूप में की गई। आधुनिक काल के आगमन को एक उद्धार करने वाले काल-खंड के रूप में देखा गया.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 417

प्रस्तुत करती है।

हालाँकि, आरंभिक आधुनिकता को लेकर चल रही बहस और विमर्श से परिचित पाठक के लिए, प्रथम दृष्टया यह संभव है कि यह किताब कोई नवीन दृष्टि प्रस्तुत करती हुई नज़र नहीं आए लेकिन *सुंदर के स्वप्न* की मौलिकता, आरंभिक आधुनिकता के विमर्श के संदर्भ में दादूपंथ के सामाजिक व बौद्धिक इतिहास के मूल्यांकन में है। एक तरह से आरंभिक आधुनिकता की अवधारणा को लेकर, 'आरंभिक हिंदी' के विद्वानों के बीच दो तरह की बहस प्रमुखता से दिखती है। इन दोनों बहस के केंद्र में शेल्डन पोलॉक द्वारा प्रतिपादित 'वर्नाक्यूलराइज़ेशन'[12] या 'देश भाषाकरण' की संकल्पना ही है। पोलॉक ने दक्षिणी एशिया की दूसरी सहस्राब्दी में घटने वाली ऐतिहासिक घटनाओं में, देश भाषाओं का बौद्धिक, साहित्यिक और धार्मिक अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में उभरने को प्रमुख माना और इसे ही 'वर्नाक्यूलराइज़ेशन' की संज्ञा दी है। साथ ही, देशी भाषाओं के अभ्युदय में, राज दरबारों की अहम भूमिका और क्षेत्रवाद से जुड़ी पहचान को लेकर राजघरानों के बीच पैदा होने वाली संजीदगी को उन्होंने रेखांकित किया है। वे देश-भाषाओं के विकास में राजकीय सरंक्षण की भूमिका अहम मानते हैं।

आरंभिक आधुनिकता की संभावना और संकल्पना को मानने वाले विद्वान पोलॉक की थीसिस को नकारते नहीं, बल्कि इसमें संशोधन की गुंजाइश तलाशते हैं। कुछ देशी भाषा साहित्य के इतिहासकार, राजघरानों के इतर, धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में होने वाली घटनाओं और प्रक्रियाओं, ख़ास कर, सूफ़ी और भक्ति आंदोलनों से उपजने वाली नई भाषा जिसने भक्ति और सूफ़ी दर्शन की लोक सुलभ आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए देश भाषाओं को परिष्कृत किया, को ज़्यादा अहमियत देने की वकालत करते हैं।[13] भक्ति और सूफ़ी दर्शन से प्रेरित साहित्य की एक बड़ी संपदा देश भाषाओं में ही है। इसका एक कारण है भक्ति और सूफ़ी दर्शन और मतों के प्रणेताओं का अपने मतों और मान्यताओं को लोक सुलभ बनाने के लिए देशज भाषाओं को माध्यम बनाना। इस शुभारंभ में, भक्ति के अंदर विभिन्न पंथों और संप्रदायों के उभरने के बाद, उनके बीच एक तरह के बौद्धिक या धर्मशास्त्रीय मान्यताओं और अभिमतों को लेकर आपसी प्रतिस्पर्धा उपजी। अपने मतों को लिपिबद्ध करने और उनको प्रमाणित साबित करने की शास्त्रीय आकांक्षा के नतीजतन देशी भाषाओं का विकास होता है। इस परिघटना के अध्ययन करने वाले विद्वतजन देश-भाषाओं के उभार में राजघरानों और राज-दरबारों की भूमिका को श्रेय देने वाले दावों के प्रति सहमत नहीं हैं। वे भक्ति, सूफ़ी, और समकालीन राजदरबार, और राजघरानों के आंतरिक स्तर पर चलने वाले बौद्धिक विमर्शों में बहुत पृथकता और संघर्ष नहीं देखते हैं, बल्कि उनमें पारस्परिक प्रोत्साहन और अंतर्संबंधों को ध्यान में रखते

[12] देखें, शेल्डन पोलॉक (1998) : 41-74.

[13] उदाहरण के लिए, देखें फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2012) : 225-46.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 418

हैं। चाहे सूफ़ी-मुग़ल संबंध हों या भक्ति के प्रणेताओं और उनके संप्रदायों को राजनीतिक सरंक्षण, वो एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य ही समझे जाते हैं। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत ने ऐसे कई पहलुओं की परतों को खोलने की कोशिश की है। दलपत के अनुसार, भक्ति व धार्मिक-साहित्यिक लेखन और राज-दरबारी बौद्धिक क्रिया कलापों में पारस्परिक प्रतिरोध का भाव नहीं हैं। बल्कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। किताब दादूपंथ का अकबर के राजदरबार के साथ यथार्थ या अभिलाषी रिश्ते की चर्चा और उसके ऐतिहासिक संदर्भ का ज़िक्र, जन गोपाल रचित *दादू जन्म लीला* के हवाले से करती है जिसमें दादू का अकबर के दरबार और उसके सर्वधर्म संवाद की नीति की चर्चा है. दलपत ने ये दिखलाने की कोशिश भी की है कि अकबर के दरबार में दादू को न केवल सम्मान प्राप्त था, बल्कि दादू के विचार अकबर की नीति के लिए अहम थे। लेखक ने सुंदरदास की बौद्धिक रचना के संदर्भ से यह बताया है कि भक्ति, वेदांत, सूफ़ी आदि दर्शन की भाषा साझी है। भक्ति के धार्मिक विमर्श को हम तत्कालीन राजनीतिक और वैचारिक विमर्श से पृथक करके नहीं देख सकते हैं। यह किताब देशभाषा के एक ज्ञानी संत के हवाले से धार्मिक, राजनीतिक, और भाषाई विविधता को संबोधित करने वाले व्यापक सांस्कृतिक संवाद की ऐतिहासिक उपस्थिति को दर्ज करने पर ज़ोर देती है। और, इसी विशिष्टता को आरंभिक-आधुनिकता का आधार मानती है।

अद्वैत वेदांत, भक्ति, राजसत्ता और सुंदरदास

समकालीन हिंदी के इतिहास लेखन में सुंदरदास कोई अपरिचित नाम नहीं हैं। उनको दादूपंथ के आंतरिक साहित्य और संप्रदाय के इतिहास में एक स्थापित व बौद्धिक संत का दर्जा प्राप्त है[14] वहीं, हिंदी साहित्य के इतिहास में भी सुंदरदास एक जाना पहचाना नाम हैं। सुंदरदास की संपूर्ण कृतियों का एक संग्रह *सुंदरदास ग्रंथावली* का प्रकाशन 1937 ई. में पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने किया था जिसमें उन्होंने सुंदरदास के व्यक्तित्व तथा जीवन इतिहास का एक सटीक व प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया था। इस ग्रंथावली की एक प्रशंसापूर्ण पर संक्षिप्त भूमिका रवींद्रनाथ टैगोर ने लिखी थी। इसके बाद दो और परिष्कृत संस्करण आए। 1987 ई. में द्वारकादास शास्त्री ने अपनी *सुंदरदास ग्रंथावली* में उनकी कविताओं का आधुनिक हिंदी में अनुवाद किया है। और दूसरा संकलन नारायणदास ने सुंदरदास की चुनिंदा कृतियों पर उनकी टीका के साथ 1989 ई. में प्रकाशित किया है।

जहाँ तक सुंदरदास को लेकर अकादमिक शोध का सवाल है, दादू दयाल और दादूपंथ के ऊपर हुए शोध में सुंदरदास को हमेशा से जगह मिली है। 1947 ई. में, डब्ल्यू. जी. ऑर ने अपनी किताब *ए सिक्स्टीन्थ सेंचुरी मिस्टिक दादू ऐंड हिज*

[14] देखें, मोनिका हॉर्स्टमन (2014), 'संत ऐंड सूफ़ी इन सुंदरदासे'ज़ पोएट्री', वसुधा डालमिया और मूनिस फ़ारूक़ी (सं.), *रिलिजियस इंटरैक्शन इन मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 419

फॉलोवर्स[15] में सुंदरदास का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। उसी तरह हिंदी साहित्य के इतिहास में, रॉनल्ड स्टुअर्ट मैकग्रेगर ने सुंदरदास की कृतियों का संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित मूल्यांकन किया है। हालाँकि, एक तरीक़े से सुंदरदास के ऊपर व्यवस्थित, विद्वत्तापूर्ण व शोधपरक काम का श्रेय जर्मनी की विद्वान प्रोफ़ेसर मोनिका हॉर्स्टमन को जाता है जिन्होंने अपने राजस्थानी भक्ति पदों के संकलन, *'क्रॉसिंग द ओसियन ऑफ़ एक्ज़िस्टेंस : ब्रज भाषा रिलीजियस पोएट्री फ़्रॉम राजस्थान, ए रीडर'* में सुंदरदास का एक सुचिंतित व शोधपरक जीवन वृत्तांत प्रस्तुत किया और उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया। कुछ और भी समकालीन विद्वानों, मसलन माइकल एस एलेन ने अपने लेख में सुंदरदास को एक वेदांती विद्वान के रूप में स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया है।

लेकिन इन सभी विद्वानों में एक बात साझी है और वह यह है कि इन्होंने सुंदरदास का मूल्यांकन या तो एक भक्त के रूप में या एक संत के रूप में या तो एक हिंदी कवि के रूप में या एक वेदांती के रूप में किया है। दलपत ने अपनी किताब में, सुंदरदास को इन खाँचों से मुक्त करवाने की कोशिश की है। उनकी नज़र में कोई भी एक विशेषण या लेबल के नज़रिए से सुंदरदास को देखना उनकी कृतियों और उनके अपने समय के साथ रिश्ते तथा अपने समय में उनके अग्रगामी होने को सीमित दायरे से बद्ध करना है। सुंदरदास एक ही साथ भक्त भी हैं, संत भी हैं, प्रतिनिधि कवि भी हैं और वेदांती भी; इस परिस्थिति को दलपत आरंभिक आधुनिकता के एक पहलू के रूप में देखने का आग्रह करते हैं। इस प्रस्ताव का एक हिस्सा ऐतिहासिक अवधारणाओं के पुनःमूल्यांकन का प्रस्ताव है जो ऐतिहासिक संदर्भों के पुनर्गठन की माँग करता है। दलपत ने कोशिश की है कि इस पुनर्गठन की ज़मीन तैयार हो सके।

मसलन, भक्ति संबंधित अकादमिक विमर्श में कुछ प्रचलित अनैतिहासिक धारणाएँ भी हैं कि भक्तिकाव्य की काव्यभाषा शास्त्र-विरोधी है; यह जनभाषा में लोक-सुलभ व्यावहारिक, आध्यात्मिक विमर्श का 'आंदोलन' है।[16] ऐतिहासिक साक्ष्य भक्तिकाव्य की 'शास्त्र-विरोधी' चलताऊ छवि को चुनौती भी देते हैं। सुंदरदास जैसे भक्त संत जिन्होंने न केवल संस्कृत की विभिन्न विधाओं जैसे वेदांत, सांख्य और योग के दर्शन में विधिवत प्रशिक्षण हासिल किया, बल्कि देशभाषा में रचित अपनी रचनाओं को शास्त्र सम्मत बनाया। सुंदरदास की भूमिका न केवल अपने समय के प्रधान बौद्धिक वैचारिक और धर्म शास्त्रीय दर्शन की प्रमुख विधा अद्वैत-वेदांत को भक्ति के विमर्श का हिस्सा बनाने में है, बल्कि अद्वैत-वेदांत को भक्ति के केंद्र में स्थापति करने में भी है। परवर्ती समय में अद्वैत-वेदांत, दादू पंथ के केंद्रीय धर्मशास्त्रीय (थियोलॉजिकल) आग्रह के रूप में स्थापित हुआ। दादू पंथ एक वेदांत-सम्मत भक्ति संप्रदाय के रूप में उभरा।

---

[15] डब्लू. जी. ऑर. (1947) : 187-189.

[16] भक्ति 'आंदोलन' से संबंधित विमर्श के लिए देखें, जॉन स्ट्रैटन हॉली, *ए स्टॉर्म ऑफ़ सॉन्स : इंडिया ऐंड द आइडिया ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2015.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 420

17वीं शताब्दी, यानि सुंदरदास के जीवन काल में ही, अद्वैत वेदांत एक बेहद महत्त्वपूर्ण धार्मिक, दार्शनिक और तात्विक सिद्धांत के रूप में सामने आता है, जिसका एक परिणाम हम दाराशिकोह की महत्वाकांक्षी उपनिषद अनुवाद परियोजना में देखते हैं। इसके तहत मुग़लकालीन भारत में उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद हुआ, अद्वैत-वेदांत के दार्शनिक और धार्मिक सिद्धांतों को अंतर-धार्मिक-सामुदायिक विमर्श का आधार बनाया गया, और वेदांत को बड़े फ़ारसी बौद्धिक समाज के सामने पेश किया गया। वहीं दूसरी ओर, वेदांत और अद्वैत वेदांत को लेकर एक बड़ा और नया बौद्धिक विमर्श संस्कृत विद्वानों के अंदर भी चला।

यह अलग बात है मध्यकालीन भारतीय दर्शन के परंपरागत इतिहासकारों की नज़र में वेदांत के मध्यकालीन इतिहास को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि वेदांत दर्शन में शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत वेदांत के सिद्धांत को प्रतिपादित करने के उपरांत, कोई तात्विक रूप से बुनियादी काम नहीं हुआ। 'वेदांत के मध्यकालीन विद्वानों को एक अच्छे संकलनकर्ता का दर्जा दिया जाता है, न कि मौलिक दार्शनिक और अध्यात्मविद का।[17] एक तरह से, भारतीय दर्शन के इतिहास में अद्वैत-वेदांत को लेकर, मध्यकाल में अंधकार युग का मापदंड ही अपनाया जाता है। 'नव-वेदांत'[18] के उभरने से पहले, वेदांत में दार्शनिक और आध्यात्मिक मौलिकता को कमतर ही आँका जाता रहा है।

क्रिस्टोफ़र के एक सारगर्भित ऐतिहासिक सर्वेक्षण के मुताबिक मध्यकाल (1200-1800) में वेदांत के इतिहास को दो हिस्से में बाँट कर देखा जा सकता है।[19] मिन्कॉव्स्की भाषा शास्त्रीय दृष्टि से 1200-1600 की अवधि को वेदांत के पहले चरण के रूप में देखते हैं, जिसमें वेदांती विद्वतजन न्याय के दार्शनिकों के साथ बहस करते पाए जाते हैं। न्यायिकों की आधारभूत तर्क पद्धति को गंभीर चुनौती पेश करते हैं। 17वीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही, अद्वैत वेदांत पर शास्त्रार्थपरक तर्क की टीकाएँ और भाष्य संस्कृत में लिखे जाने लगते हैं, ये सभी टीकाएँ वैष्णव संप्रदायों के प्रणेताओं जैसे कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्क, और वल्लभाचार्य के धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों को आड़े हाथों लेते हुए दी गई थी। अप्पय दीक्षित (1520-1593), मधुसूदन सरस्वती (1540-1593), और नृसिंह शर्मा जैसे वेदांत के मूर्धन्य विद्वानों ने भाषाशास्त्रीय

---

[17] देखें, एस. एन. दासगुप्ता (1975) : 53. और देखें, कार्ल पॉटर (1963) : 181.

[18] नव वेदांत एक बहुत ही व्यापक शब्द है जिसके मायने को लेकर कई आलोचकीय नज़रिए हैं. नव वेदांत के इतिहासकारों, ख़ास कर दो विल्हेम हाफ़बस और क्रिस्टोफ़र बेली के अलग- अलग नज़रिए हैं. हाफ़बस ये मानते हैं कि नव वेदांत पाश्चात्य अवधारणाओं और प्रतिमानों को आत्मसात करते हुए, पारंपरिक वेदांतिक विचारों को नए दृष्टिकोण में देखने की परिकल्पना है. जबकि बेली ये मानते हैं कि नववेदांत-नव हिंदूवाद / हिंदुइज़्म की एक संकल्पना है. पाश्चात्य प्रभाव का एक परिणाम है, जो भारतीय विद्वतजनों द्वारा कार्यान्वित की गई.
देखें, विल्हेम हाफ़बस, *रिसर्च ऐंड रेफ़लेक्शन : रेस्पान्स टू माई रेस्पॉन्डेंट, III, इश्यूज़ इन कॅम्परेटिव फ़िलॉसफ़ी, बियॉन्ड ओरिएंटलिज़्म: द वर्क ऑफ़ विल्हेम हाफ़बस ऐंड इट्स इम्पैक्ट ऑन इंडियन ऐंड क्रॉस कल्चरल स्टडीज़, (सं.) एली फ्रंकों ऐंड करीं प्रेज़ीनडेज़*, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 2007. और देखें, *क्रिस्टोफ़र बेली, रिकवरिंग लिबर्टीज़: इंडियन थॉट इन द एज ऑफ़ लिबरलिज़्म ऐंड एम्पायर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2012.

[19] देखें, क्रिस्टोफ़र मिन्कॉव्स्की (2011) : 205-231.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 421

(फ़िलोलॉज़िकल) पद्धति का उपयोग करते हुए, शास्त्रार्थ परक टीकाएँ वेदांत के मूलग्रंथों पर लिखीं। इन्होंने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भाष्य, और भगवदगीता – वेदांत की 'प्रस्थान त्रयी' पर टीकाएँ और भाष्य लिखे। इन्होंने परम सत्य, स्व, आत्मा, आत्म-सत्य, जैसी वेदांतिक अवधारणाओं पर तत्वमीमांसक (मेटाफ़िज़िक्स) तर्क प्रस्तुत किए। अद्वैत वेदांत के ये दार्शनिक टीकाकारों ने भक्ति के वेदांत प्रणेताओं के द्वैतवादी सिद्धांत के सामने दार्शनिक चुनौती पेश की।

अद्वैत वेदांत पर किए गए हालिया ऐतिहासिक शोध ये दर्शाते हैं कि मध्यकाल ख़ासकर 16वीं सदी में अद्वैत वेदांत का एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक विषय के रूप में उभरने के पीछे एक और कारण है बनारस स्थित पंडित समुदाय के बीच मीमांसा का एक बौद्धिक युक्ति के रूप में उभरना।[20] पंडितों के एक बौद्धिक वर्ग जिसने बनारस को अपना केंद्र बनाया वह न तो राज्याश्रित दरबारी था, न ही मंदिर आश्रित पुजारियों का एक समूह। यह एक ऐसा समूह था जिसने बनारस को संस्कृत बौद्धिकता के एक केंद्र के रूप में विकसित कर लिया था जो पठन-पाठन के एक केंद्र के रूप में उभर रहा था। दार्शनिक व शास्त्रीय ज्ञान और विशेषज्ञता ही इनकी पहचान थी। इनकी विशेषज्ञता की सेवा राजदरबारों, महाजनों और मठों द्वारा अपनी ज़रूरतों के हिसाब से ली जाती थी। संस्कृत के शिक्षार्थी देश के कोने-कोने से बनारस आकर संस्कृत की विभिन्न विधाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, जो इन दार्शनिक-पंडितों के जीविकोपार्जन का एक प्रमुख साधन भी बन गया था। यह बौद्धिकता बनारस में एक 'निवासित केंद्र' (एक्यूमीन) के रूप विकसित हुई, जहाँ के पंडितों की प्रतिबद्धता केवल संस्कृत के शास्त्रों और मूलग्रंथों के प्रति प्रतीत होती है, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत की शास्त्रीय परंपराओं का पुन:स्थापन होना शुरू होता है। इन परिवर्तनों का अंदाज़ा बनारस के धर्मशास्त्रों पर इन पंडितों द्वारा लिखित टीकाओं और इसके पहले राजदरबारों में लिखी गई टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हम बख़ूबी लगा सकते हैं।

देशभाषाओं, ख़ासकर ब्रजभाषा में लिखित इन टीकाओं और भाष्य का दोहरा उद्देश्य था. एक, जन सुलभ तरीक़े से अद्वैत-वेदांत के दर्शन के मर्म को प्रस्तुत करना दूसरा, वेदांत दर्शन को भक्ति के आध्यात्मिक विमर्श के आलोक में पुन: अवलोकन करना। यहाँ दार्शनिक विमर्श के लिए देशभाषा का चयन ग़ौरतलब है। दार्शनिक विमर्श का माध्यम बनाने के लिए भाषा में तकनीक के स्तर पर उन्नयन के लिए उपलब्ध छंद शास्त्रीय युक्ति में नवोन्मेषण, शब्दावलियों में समृद्धीकरण जैसे प्रयास बहुत व्यापक स्तर पर हुए। इस मामले में, सुंदरदास ब्रजभाषा में एक अग्रणी संत साबित होते हैं। दलपत ने सही ज़िक्र किया है कि वेदांत को लेकर देशभाषा, ख़ासकर ब्रजभाषा के कवियों और लेखकों में उत्साहजनक आग्रह है, नतीजे के रूप में हम

[20] देखें, रोज़ालिंड ओ' हैन्लॉन, 'स्पीकिंग फ्रॉम शिवा'ज़् टेंपल : बनारस स्कॉलर हाउस्होल्ड ऐंड ब्राह्मण एक्यूमीन ऑफ़ मुग़ल इंडिया', *साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर*, मार्च 2011.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 422

वेदांत के संस्कृत मूलग्रंथों का ब्रज में रूपांतरण और अनुवाद तथा उनपर टीकाओं का उदाहरण देखते हैं। 12वीं शताब्दी में मूलरूप से संस्कृत में रचित *प्रबोधचंद्रोदय* नाटक, जो कि अद्वैत-वेदांत दर्शन को राजनीतिक रूप से स्थापति करने के उद्देश्य से लिखी गई मालूम पड़ती है, ब्रजभाषा के रचनाकारों के बीच एक बहुत ही लोकप्रिय व वांछित पुस्तक के रूप में उभरती है। वेदांत में राजनीतिक रुचि, दाराशिकोह और उसकी अनुवाद की परियोजना, मारवाड़ के राजा जसवंत सिंह की वेदांत दर्शन में रूचि, और अनेक संस्कृत के वेदांत परक ग्रंथों का ब्रज और फ़ारसी में अनुवाद और विमर्श होना, यह सब सत्रहवीं सदी की एक ख़ासियत है। सवाल यह है कि उपरोक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अद्वैत वेदांत दर्शन को दादू पंथ जैसे भक्ति संप्रदाय का केंद्रीय विमर्श बना देने वाले बौद्धिक प्रयास के सूत्रधार सुंदरदास के आलोचनात्मक मूल्यांकन का आधार क्या हो?

सुंदर के स्वप्न में दलपत ने दादूपंथ के समकालीन और व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ से यह दिखाने का प्रयास किया है कि सुंदरदास अद्वैत वेदांतिक विमर्श और सूफ़ीवाद के 'अकबरी रहस्यवाद' जिसका प्रतिपादन इब्न अरबी (अल शेख़ अल अकबर) ने अपने 'वहदत अल-वजूद' और 'तौहीद' के सिद्धांत के साथ किया, दोनों से प्रेरित थे। दलपत सुंदरदास की भाषा में बहु-भाषिकता की प्रचुर मौजूदगी, जिसमें अरबी और फ़ारसी के शब्दों, साहित्यिक रचना-पद्धतियों व शैलियों का सार्थक उपयोग है, का उल्लेख करते हैं और सुंदरदास के 'ज्ञानी' होने की अवधारणा को व्यापक अर्थ में लेने का प्रस्ताव रखते हैं।

सुंदरदास की दादू व दादूपंथ के प्रति प्राथमिक निष्ठा है और वो अपने अद्वैत वेदांत व अन्य दार्शनिक विषयों की शिक्षा का दादूपंथ के भीतर प्रसार करने में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते थे। उनके लिए भक्ति

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 423

और अद्वैत वेदांत पारस्परिक रूप से भिन्न दर्शन नहीं थे, बल्कि वे एक-दूसरे को पोषित करने वाली दार्शनिक और आध्यात्मिक अवधारणाएँ थीं। फलतः आने वाले समय में अद्वैत-वेदांत के देशभाषा में होने वाली वैचारिकी के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में दादूपंथ उभरता है। सुंदरदास के काम से गृहीत व कृतज्ञता का भाव लिए हुए, पंथ के तीसरी पीढ़ी के संत निश्चलदास ने एक बहुत ही प्रभावकारी ग्रंथ *विचार-सागर* की रचना की जो अद्वैत-वेदांत को लोकप्रिय दर्शन के रूप में स्थापित करने में बहुत अहम भूमिका निभाता है।

जहाँ एक ओर, 19वीं और 20वीं शताब्दी में अद्वैत-वेदांत को आधुनिक हिंदू धर्म के केंद्रीय दार्शनिक या आध्यात्मिक परिघटना के रूप में पहचान मिली। और इसके साथ ही एक मिथक को प्रबलता से स्थापित किया गया कि अद्वैत वेदांत एक 19 वीं शताब्दी के प्राच्यवादियों की खोज व रचना थी[21] जिसको हिंदू समाज व धर्म सुधारकों ने अपनाया।[22] एक हद तक यह बात सही हो सकती है कि प्राच्यविदों और हिंदी समाज सुधारकों ने अद्वैत वेदांत को एक नई लोकप्रियता दिलाई। पर ये भ्रामक है कि औपनिवेशिक काल के पूर्व अद्वैत वेदांत एक गौण दार्शनिक दृष्टिकोण था। यहाँ सुंदरदास, अद्वैत-वेदांत का देशभाषाकरण और दादू पंथ के उत्तर काल में अद्वैत-वेदांत का लोकप्रिय होना, आरंभिक आधुनिकता से आधुनिकता के बीच एक निरंतरता की मिसाल हो सकती है। हालाँकि अद्वैत वेदांती आधुनिकता की प्रकृति पर गंभीर बहस की गुंजाइश भी जायज़ है।

भक्ति काव्य और संत-ज्ञान की नई परंपरा

हिंदी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन मुख्यरूप से साहित्य और रचना शैली को केंद्र में रख कर किया जाता रहा है।[23] इसमें भक्ति संबंधित रचनाएँ और रीति काव्य के बीच अंतर स्थापित करने को लेकर एक बड़ी जद्दोजहद रही है। प्रमुख बहस का विषय, राजदरबार के कवियों की रचनाएँ और संत कवि जो किसी न किसी पंथ या संप्रदाय से जुड़े होते थे उनकी रचनाओं के बीच भिन्नता स्थापित करने की कोशिश रही है। इस संकल्पना में, भक्ति और रीति के बीच बहुत ही साफ़ व स्पष्ट अंतर स्थापित कर दिया गया है जिसे एक वृहद स्वीकृति प्राप्त है।

राजदरबारों में स्थापित कवियों की रचनाएँ मूलतः रीति शैली में मानी जाती हैं और इसीलिए इन्हें दरबारी या अभिजात वर्ग की विलासिता से जोड़ कर देखा जाता है। इन कविताओं की विषयवस्तु में ऐसे तो बहुत विविधता है, पर नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन और शब्द-अलंकारिकता को ही इस विधा की रचनाओं के केंद्र में रख कर स्थापित करने की कोशिश होती है। रीति

21 रॉनल्ड इंडेन (2000) : 130.

22 रिचर्ड किंग, *ऑरिएन्टलिज़म ऐंड रिलीजन : पोस्ट कॉलॉनियल थियरी इंडिया ऐंड द मिस्टिक ईस्ट*, रटलेज लंदन, 1999.

23 हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रमुख काल जैसे कि आदिकाल, वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल प्रमुखत: रचना साहित्य की विषय वस्तु और उसकी रचना शैली पर आधारित हैं. इसको, हिंदी साहित्य का आधार मान कर, इतिहास लेखन के प्रणेता रामचंद्र शुक्ल की हिंदी साहित्य का इतिहास सबसे प्रभावशाली पुस्तक रही है.

कविता के प्रति हिंदी के कुछ विशिष्ट और प्रसिद्ध इतिहासकारों के पूर्वग्रहपूर्ण रवैये के कारण रीति कवियों को भक्त कवियों से कमतर आँकने का एक रिवाज सा बन गया है।[24] ऐलिशन बुश ने रीति कवियों के काव्य को केंद्र में रख कर अपने शोध में ये यह दिखाने की कोशिश की थी कि ये राजदरबारी कवि मुग़ल राजनीति से उपजे सांस्कृतिक-राजनीतिक परिवेश में एक बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे।[25] रीति कवियों को उनके व्यापक अर्थों में लेते हुए उन्होंने दिखाया था कि नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन रीति परंपरा की समग्रता का केवल एक हिस्सा था। चरित काव्य, कवियों के लिए संदर्भ पुस्तिकाएँ और नीति पद संग्रह, युद्ध व ऐतिहासिक वर्णन के ग्रंथों की रचना भी इन्हीं कवियों की कृतियों का हिस्सा थे। नायिका भेद और नख-शिख वर्णन की शैली को भी बुश ने एक व्यापक सांस्कृतिक स्वीकार्यता के रूप में भी दर्शाने का प्रयास किया था जिसका प्रसार राज दरबारों और उसके बाहर भी था। उनका ये भी मानना था कि रीति कविता को लेकर फैला पूर्वग्रह 20 वीं शताब्दी के राष्ट्रवादी और सांस्कृतिक रूढ़िवादिता का परिणाम था। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत जी ने सुंदरदास की रचनाओं के अपने पठन के आधार पर ये बताने की कोशिश की है कि रीति कविता और इसके प्रमुख विषयवस्तु नायिका भेद और नख-शिख वर्णन को लेकर, संत कवियों में एक अस्वीकरण का भाव है जो 20 वीं शताब्दी के राजनीतिक पूर्वग्रह के उपज वाले आसान तर्क को थोड़ा उलझा देता है।

सुंदर के स्वप्न में इस बात को दर्शाया गया है कि भक्त-कवियों के लिए भी कविता करने के तकनीकी पक्ष का ज्ञान आवश्यक होता था । सुंदरदास की कविता शैली जहाँ एक ओर रीति कविता की तकनीकी समृद्धता की पक्षधर है, वहीं उसकी विषय-वस्तु को लेकर उनका रुख़ आलोचनात्मक भी है। रीति कवियों और रीति कविता की विधा को लेकर सुंदरदास का यह आलोचनात्मक रुख़, उसके नख-शिख वर्णन, शृंगार रस और नायिका भेद जैसे विषयों पर अत्यधिक ज़ोर देने से जुड़ा है। पर इसके साथ ही यह भी ध्यान देना ज़रूरी है कि सुंदरदास का ज़ोर एक संत होने या एक कवि होने से ज़्यादा एक 'ज्ञानी' होने पर है। 'ज्ञानी' होने की सुंदरदास की परिकल्पना की व्याख्या करते हुए, दलपत इस बात को रेखांकित करते हैं कि सुंदरदास ने अद्वैत वेदांत व अन्य शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से एक व्यापक आध्यात्मिक विषयवस्तु की खोज की है और उसे बौद्धिकता का आधार बनाया है जो एक स्तर पर रीति कविता के 'सांसारिक' विषय-वस्तु के प्रति हेय का भाव भी पैदा कर जाता है। जो भी हो, विषयवस्तु से सख़्त असहमति के बावजूद, रीति कविता की तकनीकी और उसकी शैली के कायल हैं सुंदरदास!

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में रीति और भक्ति को दो परस्पर विरोधी विधा जैसी

[24] यहाँ, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल को प्रतिनिधि इतिहासकारों के रूप में लिया जा सकता है. देखें. महावीर प्रसाद द्विवेदी, *रसायन विज्ञान*, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, 1920 और शुक्ल का *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, 1929.

[25] देखें, ऐलिशन बुश, *पोएट्री ऑफ़ किंग्स: क्लासिकल हिंदी लिटरेचर ऑफ़ मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2012.

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 425

सरलीकृत संकल्पना के प्रति दलपत सचेत करते हैं। शैली के रूप में एक-दूसरे की पूरक होने की स्थिति को दर्शाते हैं। वे दुहराते हैं कि जहाँ रीति कविता के लिए *भक्ति रसामृत सिंधु* जैसे ग्रंथ प्रेरणा स्रोत हैं वहीं रीति कविता और इसकी तकनीकी भक्त कवियों के लिए अपरिहार्य बन जाती है। इसके अलावा दलपत ने सार्थक इशारा किया है कि रीति की विषय वस्तु के प्रति दूसरी पीढ़ी के भक्त संतों के बीच असहमति बढ़ जाती है।

संत और भक्त कवियों की असहमति के बावजूद रीति कविता 17 वीं और 18 वीं शताब्दी में लोकप्रियता के अपने शीर्षबिंदु पर थी। अगर सुंदरदास और भक्त के दूसरी पीढ़ी के संतों में रीति कविता की विषय-वस्तु के प्रति निंदा का भाव भक्ति के एक ख़ास विमर्श का हिस्सा है जो सत्रहवीं शताब्दी की उपज थी, तो रीति कविता और उसकी लोकप्रियता की प्रकृति और उसके सामाजिक ग्रहण की व्याख्या रीति और भक्ति के संबंध पर पुनर्विचार के लिए आवश्यक है। एक और महत्त्वपूर्ण बात जो आरंभिक आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य से हिंदी साहित्य के इतिहास में ख़ासी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, वो है इस अवधि में बहुभाषिकता के एक मानदंड के रूप में स्वीकृति। भक्ति काल के संत वेदांत और संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा में प्रशिक्षित होने के बावजूद, आरंभिक हिंदी के बहुभाषिक चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुंदरदास का बहुभाषिक सामर्थ्य, जहाँ एक ओर संस्कृत ज्ञान व शास्त्र परंपरा में प्रशिक्षित होने, बनारस की पांडित्यपूर्ण संस्कृति का देशभाषाओं में प्रभाव और अनुकरण के किसी भी सरलीकरण की संभावना को जटिल बनाती है वहीं सुंदरदास अपने समय के देश-भाषाकरण की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए नज़र आते हैं।

आरंभिक आधुनिकता की प्रवृत्ति बहुभाषिकता को आत्मसात करने के एक स्वाभाविक अभिप्राय के रूप में लेने की रही है, लेकिन आधुनिक साहित्य और भाषा आंदोलन की राजनीति ने भाषा की संकीर्ण एकभाषी वैचारिकी को बढ़ावा दिया। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत जी ने सुंदरदास की काव्य रचना में इस पहलू को उजागर कर स्वागत योग्य काम किया है। एक बात जो भक्ति के दर्शन के देशभाषाई विमर्श में खुल कर नहीं आती है वह है भक्ति के विमर्श और इसके आध्यात्मिक विमर्श का बहुधार्मिक होने की अनिवार्यता। दादूपंथ में एक से अधिक मुस्लिम संतों का महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना और भक्ति और सूफ़ी के तात्विक दर्शन में सामंजस्य देखने की प्रवृत्ति को आरंभिक आधुनिकता के भारतीय प्रारूप की एक अहम पहचान के रूप में देखा जाना चाहिए। जहाँ पाश्चात्य इतिहास में, आरंभिक आधुनिकता का विमर्श एकरूपता और एकभाषी समाज की तरफ़ बढ़ने का विमर्श है, वहीं भारतीय संदर्भ में आरंभिक आधुनिकता बहुभाषिकता, एक से अधिक सामाजिक पहचानों को आत्मसात करने का विमर्श है, जो कि कई अर्थों में औपनिवेशिक आधुनिकता की ऐतिहासिक मौजूदगी की वजह से एक अधूरी परियोजना बनकर रह गई है। भारत की बहुल संस्कृति के लिए आधुनिकता की संकल्पना व परियोजना कैसी हो जिसमें हम अपनी बहुलता की पहचान को सार्थक कर सकें। ये कुछ ऐसे प्रश्न

16Ravi Praksh_Layout 1 22-02-2024 16:12 Page 426

हैं जिनके लिए आरंभिक आधुनिकता के विमर्श हमारी समकालीन राजनीतिक व बौद्धिक समझ के लिए बेहद ज़रूरी हैं। इन प्रश्नों से एक बार फिर रू-ब-रू करवाने के लिए *सुंदर के स्वप्न* को दलपत ने हमारे सामने रखा है।

संदर्भ

इमानुयल वॉलस्टीन (1995), 'द एन्ड ऑफ़ व्हाट माडर्निटी', *थ्योरी ऐंड सोसायटी*, खंड 24, नंबर 4 : 471-488.

ऐलिशन बुश (2012), *पोएट्री ऑफ़ किंग्स : क्लासिकल हिंदी लिटरेचर ऑफ़ मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

एस. एन. दासगुप्ता (1975), *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फिलॉसफ़ी, खंड III*, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली.

कार्ल पॉटर (1963), *प्रीसपोज़िशन ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसफ़र्स*, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली.

क्रिस्टोफ़र बेली (2012), *रिकवरिंग लिबर्टीज़ : इंडियन थॉट इन द एज ऑफ़ लिबरलिज़्म ऐंड एम्पायर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

क्रिस्टोफ़र मिन्कॉव्स्की (2011), 'अद्वैत वेदान्त इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', *साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर,* खंड 2, नंबर 2, अप्रैल : 205-231.

जॉन एफ़ रिचर्डस (1997), 'अर्ली मॉडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री,* खंड 8, नंबर 2 : 197-209.

जॉन स्ट्रैटन हॉली (2015), *ए स्टॉर्म ऑफ़ सॉन्ग्स : इंडिया ऐंड द आइडिया ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट,* हावर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

डब्लू जी ऑर (1947), *ए सिक्स्टीन्थ सेंचुरी मिस्टिक दादू ऐंड हिज़ फ़ॉलोवर्स,* लटर वर्थ, प्रेस, लंदन.

निकोलस डर्क्स (2001), *कास्टस ऑफ़ माइन्ड : कोलोनियलिज़्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2012), 'हाऊ टू डू मल्टीलिंगुअल लिटरेरी हिस्ट्री? लेसन फ्रॉम फ़िफ़्टीन्थ ऐंड सिक्स्टीन्थ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 49, 2 : 225-46.

बर्नार्ड कोह्न (1987), 'द सेन्सस, सोशल स्ट्रक्चर ऐंड ऑब्जेक्टीफ़िकेशन इन साउथ एशिया', *ऐन एन्थ्रोपोलीजिस्ट एमंग द हिस्टोरियंस ऐंड अदर एसेस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1920), *रसायन विज्ञान*, साहित्य रत्न भंडार, आगरा.

मोनिका हॉर्स्टमन (2014), 'संत और सूफ़ी इन सुंदरदासे'ज़ पोएट्री', वसुधा डालमिया और मूनिस फ़ारूक़ी (सं.), *रिलिजियस इंटरैक्शन इन मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

रामचंद्र शुक्ल (1929), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

रिचर्ड किंग (1999), *ओरिएन्टलिज़्म ऐंड रिलीजन : पोस्ट कोलोनियल थ्योरी इंडिया ऐंड द मिस्टिक ईस्ट*, रटलेज, लंदन.

रुडोल्फ़ स्टर्न (2002), 'द अर्ली मॉडर्न मडल', *जर्नल ऑफ़ अर्ली मॉडर्न हिस्ट्री*, खंड 6, नंबर 3 : 296-307.

रॉनल्ड इंडेन (2000), *इमेजिंग इंडिया*, ब्लूमिंगटन इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस.

विल्हेम हाफ़बस (2007), 'रिसर्च ऐंड रिफ़लेक्शन : रिस्पॉन्स टू माई रिस्पान्डेंट, III इशूज इन कॅम्परेटिव फिलॉसफ़ी', *बियॉन्ड ओरिएन्टलिज़्म : द वर्क ऑफ़ विल्हेम हाफ़बस ऐंड इट्स इम्पैक्ट ऑन इंडियन ऐंड क्रॉस कल्चरल स्टडीज़*, (सं.), एली फ्रंकों ऐंड करीं प्रेज़ीनडेज़, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

शेल्डन पोलॉक (1998), 'इंडिया इन द वर्नाक्युलर मिलेनियम : लिटरेरी कल्चर ऐंड पॉलिटी, 1000-1500', *डेयडलस* , 127 नंबर, 3, ग्रीष्म : 41-74.

शेल्डन पोलॉक (2011), (सं.) *फॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न एशिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

संजय सुब्रमण्यम (1998), 'हियरिंग वॉयसेज़ : विन्यनेट्स ऑफ़ अर्ली मॉडर्निटी इन साउथ एशिया, 1400-1700', *डेयडलस*, खंड 127, नंबर 3, ग्रीष्म : 75-104.